P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-7* (Part-2) March- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

प्राचीन भारत में शिक्षा का स्वरूप एवं विकास

संजीव कुमार
सहायक आचार्य,
इतिहास विभाग,
से.ने.म.टी.राजकीय स्नातकोत्तर
महिला महाविद्यालय,
झुंझुनूं, राजस्थान, भारत

सारांश

भारतीय समाज में प्राचीन काल से शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त ज्ञान परक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमें व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। मनुष्य के जीवन में विद्या या ज्ञान का अत्यन्त विशिष्ट स्थान था। शिक्षा से मनुष्य का जीवन समृद्ध और उन्नत होता था। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास एवं नागरिक तथा सामाजिक उद्देश्यों, कर्त्तव्यों का ज्ञान कराना था। शिक्षा से व्यक्ति में निष्ठा एवं धार्मिकता का संचार होता था, इससे संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार होता था। प्राचीन शिक्षा का पाठ्यक्रम वैदिक साहित्य के साथ–साथ इतिहास, पुराण, खगोल विद्या, ज्यामिति, छन्दशास्त्र, दर्शन, महाकाव्य, व्याकरण एवं शिल्पों का अध्ययन था। शिक्षा गुरुकुल पद्धति पर आधारित थी, गुरुकुल उच्च अध्ययन के निमित्त होते थे। आचार्य एवं शिष्य के सम्बंध अत्यन्त पावन एवं उदात्त होते थे। वैदिक युग में शिक्षा प्राप्ति के लिए विशेष भेदभाव नहीं था। बाद में आकर यह प्रथा बन्द हो गई तथा समाज में ब्राह्मणों ने ही शिक्षा प्रदान करने का दावा किया तथा केवल द्विजो को ही शिक्षा का अधिकार रहा। इस तरह शिक्षा पद्धति में अनेक दोष उत्पन्न हो गये। लौकिक विषयों पर ध्यान ज्यादा नहीं दिया गया। परन्तु यह बात भी सही है कि प्राचीन शिक्षा ने ही भारतीय संस्कृति की विरासत को सुरक्षित रखा तथा उसे समृद्धशाली बनाया।

मुख्य शब्द : वैदिक साहित्य, पुराण, उपनिषद, ब्रह्मचारी, उपनयन, गुरुकुल, आचार्य, उपाध्याय, चरक, अन्तेवासी, द्विज, ब्रह्मवादिनी, आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक रोचक तथा महत्त्वपूर्ण सभ्यताओं में एक है। इस सभ्यता के समुचित ज्ञान के लिये हमें इसकी शिक्षा पद्धति का अध्ययन करना आवश्यक है जिसने इस सभ्यता को चार हजार वर्षों से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा, उसका प्रचार प्रसार किया तथा उसमें संशोधन किया।[1] प्राचीन काल से शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमें व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। मनुष्य व समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव माना जाता रहा है। वैदिक युग में शिक्षा को प्रकाश का स्रोत माना गया जो मानव–जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलौकित करते हुए उसे सही दिशा–निर्देश देता है। सुभाषित रत्नसंदोह में कहा गया है कि

ज्ञान तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्वार्धविलोकदक्षम।
तेजोउनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेउपि।।[2]

ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को जानने में सहायता करता है तथा सही कार्यों को करने की विधि बताया है। महाभारत में वर्णित है कि विद्या के समान नेत्र तथा सत्य के समान तप कोई दूसरा नहीं है। (नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः)।[3] इसे मोक्ष का साधन माना गया है। वस्तुतः ज्ञान अथवा विद्या से व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत और दिव्य हो जाता है वह ज्ञान सम्पन्न होकर देवतुल्य हो जाता है। वैदिक युग में ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी। ऋग्वैदिक समाज में भी भौतिक की अपेक्षा बौद्धिक ज्ञान का महत्व था। ऋग्वेद में गायत्री मन्त्र ज्ञान के उच्चतम आधार थे। मंत्रदृष्टा ऋषियों की क्रयाओं में उच्चतम दार्शनिक चिन्तन दिग्दर्शित होता था। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन का अनुगमन करने से व्यक्ति का मन एकाग्र हो जाता है इससे नित्य धन की प्राप्ति होती है, सुखद निद्रा आती है। वह अपना चिकित्सक बन जाता है। उसकी इंद्रियां संयमित हो जाती है। वह प्रज्ञावान् हो जाता है, यशस्वी हो जाता है और संसार के अभ्युदय

में लग जाता है।[4] समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को ब्राह्मण ज्ञान के माध्यम से पूर्ण करता है।[5] शिक्षा के बिना मनुष्य का व्यक्तित्व संकुचित है और जीवन बोझिल। अज्ञानता अन्धकार के समान है।[6] अतः अज्ञानी मनुष्य का जीवन अन्धकारमय है। उसके कर्मो की कोई महत्ता नही। पूर्व वैदिक युग में भी शिक्षा का बहुत अधिक महत्व था। उस समय तक विद्या अथवा ज्ञान का समुचित महत्व स्थापित हो चुका था। प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य का ज्ञान अप्रतिम और अनुपम माना जाता था। इसलिये ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया है।[7] शिक्षा से मनुष्य का जीवन समृद्ध और उन्नत होता है, उसकी बुद्धि और प्रज्ञा सुदृढ़ और प्रांजल होती है। कोई मनुष्य अन्य किसी मनुष्य से बड़ा उसी स्थिति में होता है। जब उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा द्वारा तीव्र और उच्च होती है। इसलिये विद्याहीन मनुष्य को पशुवत् कहा गया है (विद्याहीनःपशुः)।[8] प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के र्स्वागीण विकास का साधन थी। इसका उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नही था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था। शिक्षा के द्वारा मनुष्य आजीविका का उत्तम साधन प्राप्त करता है। किन्तु इसे मात्र आजीविका का साधन मानना भारतीयों की दृष्टि से अभीष्ट नही था। (यस्यागम केवल जीविकायै, तं ज्ञानपण्यं वणिजे वदन्ति) ऐसी मान्यता वालो की निन्दा की गयी है।[9] प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा अध्यात्मिक उत्थान का सर्वप्रमुख माध्यम है।

शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन ग्रंथो में शिक्षा से सम्बन्धित जो उल्लेख मिलते हैं, उसके आधार पर हम प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यों तथा आदर्शों की जानकारी प्राप्त कर सकते है।

1. शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना था। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाएं सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्त्व था कि समस्त वेदो का ज्ञाता विद्वान, सच्चरित्रता और सदाचरण के अभाव में मानवीय नहीं था, किन्तु केवल गायत्री मन्त्रों का ज्ञाता पण्डित अपनी सच्चरित्रता के कारण मानवीय और पूजनीय था।[10]
2. प्राचीन शिक्षा में विद्यार्थी को व्यक्तित्व विकास का पूरा अवसर प्रदान करना था। उसके भीतर आत्मसंयम, आत्मचिन्तन, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेक–भावना, न्याय प्रवृति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होना आवश्यक था।
3. प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का बोध कराकर उसे सुयोग्य नागरिक बनाना था। तैतिरीय उपनिषद में कहा गया है कि व्यक्ति को सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय से प्रमाद न करना। सत्य से न हटना। धर्म से न हटना। सन्तति उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। देवता, पितरों एवं माता–पिता की सेवा करना। आचार्य एवं अतिथि को देवता समझना चाहिए।[11]
4. शिक्षा संस्कृति के परिरक्षण तथा परिवर्धन का प्रमुख माध्यम है। इसी के द्वारा प्राचीन संस्कृति वर्तमान में जीवित रहती है तथा पूर्वकालिक परम्पराओं में जीवन शक्ति आती है। अतः प्राचीन शिक्षा पद्धति ने इस उद्देश्य को सम्यक् रूप से पूरा किया। सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए त्रिऋण की अनिवार्यता मानी गई है।[12] अतः उसे पूरा करना व्यक्ति का प्रधान कर्त्तव्य है।
5. भारतीय शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक सुख तथा निपुणता को प्रोत्साहन प्रदान करना भी था। केवल संस्कृति अथवा मानसिकता और बौद्धिक शक्तियों को विकसित करने के लिए ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, अपितु इसका मुख्य उद्देश्य विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों आदि में लोगों को दक्ष बनाना था। विभिन्न वर्णों के लोग अपनी–अपनी आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा प्राप्त करते थे। गीता में वर्णित है कि (स्वे–स्वे कर्माणिभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।) अपने–अपने कर्मों में रत मनुष्य ही सिद्धि को प्राप्त करता है।[13]
6. भारत की प्राचीन संस्कृति धर्म प्रधान रही है जहाँ धर्म ने संस्कृति के सभी पहलुओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। अतः शिक्षा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में निष्ठा एवं धार्मिकता की भावना जागृत करना था। सामान्यतः विद्यार्थी के लिए संध्या–वंदना, पूजा–पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किये गये थे। सत्यभाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य न बोलने से भी धर्मों का क्षय हो जाता है।[14]

   सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के उद्देश्य अत्यन्त उच्च कोटि के थे। शिक्षा–सम्बन्धी प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण मात्र आदर्शवादी ही नहीं, अपितु अधिकांश अंशों में व्यावहारिक भी था।

विद्यारम्भ एवं पाठ्यक्रम

अक्षर और वर्णमाला की शिक्षा का प्रारम्भ विद्यालय के अन्तर्गत आता है। यह संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले ही सम्पन्न किया जाता था। प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था से विद्या का आरम्भ माना जाता था। उपनयन संस्कार के पूर्व विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न कर लिया जाता था और उसी दिन बालक का विद्यारम्भ करा दिया जाता था। अपरार्क और स्मृतिचन्द्रिका ने मार्कण्डेयपुराण को उद्धृत करते हुए सन्तान के विद्यारम्भ की अवस्था पाँच वर्ष निर्देशित की है।[15] बालक की सुव्यवस्थित और सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य आश्रम में उपनयन संस्कार के पश्चात् होता था,[16] जिसमें आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन में दीक्षित करता था जिसे द्वितीय जन्म कहा गया। अतः ब्रह्मचारी को 'द्विज' कहा गया है। उपनयन संस्कार से ब्रह्मचारी को विद्यामय और ज्ञानयुक्त मस्तिष्क प्राप्त होता था, जो माता–पिता से प्राप्त स्थूल शरीर से भिन्न था। यह संस्कार पूर्ण रूपेण शिक्षा से सम्बद्ध था और बालक की शिक्षा इसके बाद से ही अविलम्ब गुरु के सानिध्य से प्रारम्भ हो जाती थी। शुद्रो के अतिरिक्त तीनों वर्णों में उपनयन संस्कार अनिवार्य था जिसके लिए अवस्था भिन्न–भिन्न थी। ब्राह्मण पुत्र के लिए

08 वर्ष से लेकर 10 वर्ष तक, क्षत्रिय पुत्र के लिए 11 वर्ष तथा वैश्य पुत्र के लिए 12 वर्ष की आयु शिक्षा प्रारम्भ के लिए निर्धारित की गई थी।[17]

ऋग्वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्यक्रम वैदिक साहित्य का अध्ययन ही था। पवित्र वैदिक ऋचाओं के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, नाराशंसी गाथायें, खगोल विद्या, ज्यामिति एवं छन्दशास्त्र आदि भी अध्ययन के विषय थे।[18] उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गये तथा ये शिक्षा के विषय बन गये। वैदिक साहित्य का अध्ययन नौ या दस वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता था। यही उपनयन का समय भी था। उपनिषद् तथा सूत्रों के युग मे वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया गया। वैदिक साहित्य के अध्ययन को सरल बनाने निमित छः वेदांगों की रचना हुई– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द तथा ज्योतिष। सूत्र काल तक आते–आते अन्य विषयों को भी शामिल किया गया, जिसमें दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, व्याकरण, खगोल विद्या, मूर्तिकला, वैद्यक, पोत निर्माण कला शामिल थे।[19] विभिन्न व्यवसायों तथा शिल्पों की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे। छांदोग्य उपनिषद् में विवृत है कि सनत्कुमार को अनेक विधाओं का ज्ञान था। नारद ने सनत्कुमार से कहा था, "मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है। इतिहास–पुराण–रूप पाँचवाँ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्रद्धाकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या व नृत्य–संगीत आदि मैं जानता हूँ।[20] बौद्ध युग में वेद, वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, संहिता, उपनिषद, शिक्षा, अर्थशास्त्र, शिल्प, वार्ता, व्याकरण, दर्शन, धर्म, इतिहास आदि प्रमुख थे।[21] कौटिल्य ने भी आन्वीक्षकी (तर्क और दर्शन), त्रयी (तीन वेद और उनके ब्राह्मणादि), वार्ता (कृषि, पशुपालन, चारा भूमि, वाणिज्य) और दण्डनीति (राजशास्त्र और शासन) का उल्लेख किया है।[22] सम्राट समुद्रगुप्त अनेकानेक विषयों में गुरु तथा वीणावादन में तुम्बरू और नारद जैसे देवताओं से भी अधिक पारंगत था।[23] पाठ्यक्रम के विषय में अलबरूनी लिखता है कि विज्ञान और साहित्य की अनेक शाखाओं का विस्तार हिन्दू करते हैं तथा उनका साहित्य सामान्यतः अपरिसीम है। उसने ज्ञान–विज्ञान के विविध विषयों का उल्लेख किया है। जिसमें चारों वेद, अठारह पुराण, बीस स्मृतियों, रामायण, महाभारत, गौड़कृत ग्रन्थ, पतंजलिकृत ग्रन्थ, कपिलकृत न्याय भाषा, मीमांसा, बृहस्पति, वराहमिहिर, आर्यभट्ट आदि के ग्रन्थों को शामिल किया है।[24] इसी तरह कामसूत्र में 64 कलाओं का उल्लेख किया गया है जिनका अध्ययन सुसंस्कृत महिला के लिए अनिवार्य बताया गया है। हुएनसांग तथा अल्बेरूनी के विवरण से पता चलता है कि व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा का भारत में बहुत अधिक प्रचलन था।

वैदिक युग के प्रारम्भ में शिक्षा मौखिक होती थी तथा पवित्र मन्त्रों को कण्ठस्थ किया जाता था। पुरोहित वर्ग के लोग विशेष रूप से मन्त्रों को याद कर लिया करते थे। कालान्तर में मन्त्रों को याद करने के साथ ही साथ उनकी व्याख्या के ज्ञान पर भी बल दिया गया। प्राचीन समय में कागज तथा छपाई के साधनों के अभाव में पुस्तकें अत्यन्त महँगी थी जिससे साधारण विद्यार्थी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते थे। पुस्तकालयों का अभाव था। अतः विद्यार्थी ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लेते थे। विद्वान वहीं माना जाता था जिसकी जिह्वा पर समस्त विद्यायें रटी हुई हो। लेकिन बाद में लेखन उपकरण का प्रयोग किया जाने लगा, जिसमें भोज पत्र, कमल पत्र आदि प्रमुख थे। इन पर मयुरपंख से लिखा जाता था। कालान्तर में प्रारंभिक शिक्षा के छात्र को लिखने के लिए काली पटिया और खडिया दी जाती थी। वह लम्बवत पटिया (तख्ती) पर बाएँ से दाएँ लिखने का अभ्यास करता था। अलबरूनी लिखता है कि वे बालकों के लिए विद्यालय मे काली तख्ती प्रयोग में लाते थे और उस पर लम्बाई की ओर से, न कि चौड़ाई की, बाएँ से दाएँ सफेद वस्तु से लिखते थे।[25]

गुरुकुल पद्धति

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख तत्व गुरुकुल व्यवस्था है। प्रायः छात्र उपनयन संस्कार के बाद गृह त्यागकर गुरु के सानिध्य में जाता था तथा यहीं गुरुकुल में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करता था।[26] कभी–कभी वह शिक्षा केन्द्रो से सम्बंध छात्रावासों में निवास करता था। इस प्रकार के विद्यार्थियों को 'अन्तेवासी' अथवा 'आचार्य कुलवासी' कहा गया है। गुरु के समीप रहते हुए विद्यार्थी उसके परिवार का एक सदस्य हो जाता था तथा गुरु उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था। गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुये विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था। गुरु की सेवा करना उसका परम कर्त्तव्य था। गुरु के चरित्र तथा आचरण का शिष्य के मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता था तथा वह उसका अनुकरण करता था। गुरुकुल सदैव वनों में ही स्थित नहीं होते थे। वाल्मीकि, कण्व, संदीपनि आदि के आश्रम वनों में ही थे किन्तु अधिकांशतः गुरुकुल ग्रामों तथा नगरों में अवस्थित होते थे। बौद्ध शिक्षा केन्द्र अधिकतर नगरों तथा अग्रहार ग्रामों में थे। तक्षशिला के अध्यापक राजधानी में ही रहा करते थे। शिक्षक ग्रहस्थ थे और गुरुकुलों में ही रहते थे। प्राचीन साहित्य में गुरुकुल में रहकर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के नाम मिलते है। कृष्ण और बलराम में सन्दीपनि मुनि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण की थी।[27] कंच ने शुक्राचार्य के कुल में विद्यार्जन किया था।[28] रामायण में भारद्वाज तथा बाल्मीकि के गुरुकुलों का उल्लेख मिलता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि कण्व तथा मार्कण्डेय ऋषियों के आश्रम प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र थे। मुनि दुर्वासा के आश्रम में दस हजार विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला में चाणक्य के सानिध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण की थी। बौद्ध ग्रन्थों से भी ब्राह्मण आचार्यों के कुलों का विवरण मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस युग में भी लोग गुरुकुलों में रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे।[29] चम्पा निवासी दिशाप्रमुख आचार्य के आश्रम में पाँच सौ छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। कोशल के सुनेत्त और सेल उस युग के अत्यन्त विख्यात आचार्य थे।[30] गुप्तकाल में भी गुरुकुल की शिक्षा निर्बाध रूप से चलती रही। ग्यारहवीं सदी का लेखक अलबेरूनी भी गुरुकुल का उल्लेख करता है। उसके अनुसार शिष्य दिन–रात गुरु की सेवा में तल्लीन रहा करता था।[31]

गुरु शिष्य सम्बंध

वैदिक युग से आचार्य अथवा गुरु का स्थान अत्यन्त आदरयुक्त, गरिमामय और प्रतिष्ठित था। वस्तुतः ऋग्वैदिक आचार्य दिव्य और अलौकिक ज्ञान के प्रतीक थे। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति और समाज को शिक्षित ही नहीं करता था, बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान में भी पारंगत करता था। वह अज्ञान के तिमिर से छात्र को ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में लाता था। वस्तुतः ज्ञानरूपी दीपक आवृत रहता है। गुरु दीपक के उस आचरण को हटाकर ज्ञान की किरणें विकीर्ण कर देता है।[32] इसलिए प्राचीन काल में गुरु की अपार महिमा थी। समाज में उसकी स्थिति सर्वोच्च थी। वह आदर का ही पात्र नहीं बल्कि पूज्य भी था। प्राचीन काल में आचार्य या गुरु के अनेक प्रकार थे। 'आचार्य' इसलिए कहा जाता था क्योंकि वह अपने शिष्यों को 'आचार' या 'चारित्र्य' की शिक्षा प्रदान करता था।[33] मनु के अनुसार जो ब्राह्मण वेद के एक देश को तथा वेदांगों को जीविका के लिए पढ़ाता था, वह 'उपाध्याय' कहा जाता था।[34] प्रोक्त साहित्य (शाखाग्रन्थ, ब्राह्मण और श्रोतसूत्र का विद्वान) की शिक्षा देने वाला प्रवक्ता के नाम से जाना जाता था। वैज्ञानिक एवं लौकिक साहित्य का ज्ञान प्रदान करने वाला 'अध्यापक' के नाम से विख्यात था। जो गृहस्थ विद्वान शिक्षा प्रदान करता था, 'गुरु' की श्रेणी मे आता था। पिता भी गुरु की श्रेणी में आता है। प्राचीन काल में ऐसे भी अध्यापक थे जिनका जीवन भ्रमण और यायावर का था। वे घूम–घूमकर अपने शिष्यों का स्वयं चुनाव करते थे तथा उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। इस प्रकार विचरण करने वाले ऐसे अध्यापक 'चरक' कहे जाते थे।[35] उपनिषद्काल के महान विद्वान उद्दालक आरूणि ऐसे ही 'चरक' आचार्य थे।

वैदिक युगीन आचार्य अपने शिष्य का भी आदर करते थे तो शिष्य भी अपने आचार्य को देवता की तरह पूजता था। आचार्य यह कामना करता था कि उत्कृष्ट बुद्धिवाले ब्रह्मचारी विभिन्न विषयों के अध्ययनार्थ सब जगह से उसके पास आएँ जिससे आचार्य यशस्वी, ब्रह्ममय, शुद्ध और प्रतिभाशाली बने और साथ ही शिष्य स्वयं संयमी, शीलवान् और शान्त स्वभाव के हो।[36] शिष्यों को कठोर व तपःशील जीवन यापन करना पड़ता था। आचार्य पिप्पलाद ने स्वयं पीपल वृक्ष के फल खा कर जीवन यापन किया तथा सुन्दर व सुखद भोजन से दूर रहे, तभी पिप्पलाद नाम पड़ा। इसी तरह आचार्य कणाद ने कण खाकर अपना पोषण किया और इसलिए उन्हें कणाद नाम से जाना गया। उपनिषदों में जानकारी मिलती है कि कभी–कभी शिष्य आचार्य के यहाँ जीवन पर्यंत रहकर ज्ञानार्जन में लगा रहता था और आचार्य उसे ससम्मान अपने परिवार के सदस्य के रूप में अपने यहाँ रखने में गौरव का अनुभव करता था।[37] आचार्य अथवा अध्यापक अपने विषय का पूर्ण ज्ञानी और विद्वान होता था। वह शिष्य को मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराने वाला सुज्ञानी होता था।[38] इसलिए शिक्षार्थी उस पर अधिक निर्भर थे। वह वेदों और शास्त्रों का ज्ञाता होता था। वाक्चातुर्य, भाषण–पटुता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, तार्किकता और रोचक कथाओं में दक्ष तथा ग्रन्थों का अर्थ करने में वह आशु पण्डित और वक्ता होता था।[39] अध्यापक के लिए कालीदास ने कहा है कि वह विद्वान ही नहीं होता बल्कि शिष्ट–क्रिया–युक्त साधु प्रकृति वाला पटू शिक्षक होता था।[40] कालिदास ने गुरु शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध को 'गुरुवो गुरुप्रियम' कहा है।[41] दशकुमारचरित् में गुरु की प्रशंसा की गई है तथा शिष्य को उसका अनुवर्ती होने का संकेत किया गया है। चन्द्रपीड़ ऐसा ही कर्त्तव्यनिष्ठ शिष्य था।[42]

नारी शिक्षा

वैदिक युग में नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। ज्ञान और शिक्षा में वे किसी भी प्रकार पुरूषों से कम नहीं थी। ऋग्वेद से अनेक ऋषिकाओं के विषय में जानकारी मिलती है जिन्होंने अनेकानेक मन्त्रों और ऋचाओं की रचना की थी। लोपामुद्रा, विश्ववारा, आत्रेयी, अपाला, काक्षीवती, घोषा, सिफल आदि विदुषी नारियां इनमें प्रसिद्ध थी। उपनिषदों में गार्गी नामक परम विदुषी महिला का विवरण है जिसने जनक की राजसभा में याज्ञवलक्य जैसे विद्वान महापुरुष को गूढ प्रश्नों से मूक कर दिया था।[43] याज्ञवलक्य की पत्नी मैत्रयी भी अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मवादिनी महिला थी।[44] गृह्यसूत्रों से विदित होता है कि उनका उपनयन के साथ–साथ समावर्तन संस्कार भी होता था।[45] इससे लगता है कि सूत्र युग में पुरूषों की तरह स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थी। उस युग में दो तरह की स्त्रियाँ थी– एक सद्योवधू और दूसरी ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू विवाह होने के पहले तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थी तथा ब्रह्मवादिनी जीवनपर्यन्त ज्ञानार्जन में लगी हुई ब्रह्मचर्य व्रत का अनुपालन करती थी।[46] अध्ययन करने वाली स्त्रियाँ 'आचार्या' और 'उपाध्याया' कही जाती थी। महाकाव्यों से भी स्त्री शिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। कौशल्या और तारा 'मंत्रविद' नारियाँ थी। सीता नित्य संध्या पूजन करती थी।[47] द्रोपदी तो 'पण्डिता' थी ही। उत्तरा ने अर्जुन से संगीत और नृत्य की शिक्षा प्राप्त की थी। बौद्ध परम्पराओं से विदित होता है कि स्त्रियाँ सुशिक्षित होती थी। संघमित्रा लंका जाकर बौद्ध शिक्षा के प्रचार में संलग्न हुई। सुमा, अनोपमा आदि स्त्रियाँ दर्शन में पारंगत थी। वात्स्यायन ने स्त्रियों के लिए 64 अंग विद्याओं के अध्ययन करने का उल्लेख किया है। उसने 'उपाध्याय', 'उपाध्यायी', 'आचार्या' आदि का भी उल्लेख किया है।[48] परन्तु स्मृतिकाल के बाद स्त्रियों के उपनयन संस्कार बन्द हो चुके थे। साधारण परिवारों में तो शिक्षा का प्रसार अवरूद्ध हो चुका था, किन्तु उच्च परिवारों की स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार पूर्ववत् था। राजशेखर ने विदुषी और कवि स्त्रियों का उल्लेख किया है।[49]

प्राचीन शिक्षा पद्धति के दोष

प्राचीन शिक्षा पद्धति की हम आलोचनात्मक समीक्षा करें तो अनेक गुणों के साथ–साथ इसमें कुछ दोष भी हैं, जिसका विवरण इस प्रकार हैं :–

1. प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर धर्म का व्यापक प्रभाव था। शिक्षा का दृष्टिकोण व्यवहारिकता की अपेक्षा आदर्शवादी अधिक था।

2. शिक्षा के पाठ्यक्रम में लौकिक विषयों की अपेक्षा धार्मिक विषयों को प्रधानता दी गई थी। इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, गणित व खगोलविद्या के अध्ययन की उपेक्षा की गई।
3. भारतीय शिक्षा पद्धति में वेदों व उनके आधार पर प्रणीत ग्रन्थों को अपौरूषय व पवित्र माना गया था। किसी भी प्रकार का शोध या सिद्धान्त इनके अविरूद्ध होने पर ही मान्य होता था।
4. शिक्षा का उद्देश्य प्राचीन संस्कृति की सुरक्षा एवं उसे समृद्धशाली बनाना था। अतः नवीन मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया गया।
5. शिक्षा पद्धति में प्राचीन ज्ञान–विज्ञान के ऊपर अतिशय बल दिये जाने का एक कुपरिणाम यह निकला कि भारतीय विद्वानों में कूपमण्डूकता आ गयी तथा वे विदेशी ज्ञान–विज्ञान की प्रगति से उदासीन हो गये।
6. शिक्षा का प्राचीन दृष्टिकोण व्यापक था तथा सभी को इसे प्राप्त करने का अवसर मिला। किन्तु कालान्तर में यह उच्च वर्ग तक ही सीमित हो गयी।
7. भारतीय शिक्षा पद्धति में विभिन्न शाखाओं के बीच सांमजस्य स्थापित करने का प्रयास नहीं हुआ। प्रत्येक विद्वान अपनी ही समस्याओं के विषय में सोचते थे।

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध पत्र के अध्ययन का उद्देश्य प्राचीन भारत में शिक्षा के स्वरूप को समझना था। प्राचीन भारत में शिक्षा का विकास किस तरह हुआ। शिक्षा का पाठ्यक्रम किस तरह का था। गुरु–शिष्य परम्परा किस तरह विकसित हुई। प्राचीन गुरुकुल पद्धति भारतीय शिक्षा का प्रमुख आधार थी। यहाँ छात्र के सर्वांगीण विकास पर जोर दिया जाता था। आज भी प्राचीन शिक्षा के आदर्श हमारी शिक्षा में विद्यमान है। प्राचीन शिक्षा के अध्ययन से पत्ता चलता है कि यहाँ विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड विद्वान हुए। उनकी ख्याति इतनी दूर–दूर तक थी कि विदेशी छात्र भी अध्ययन के लिये यहाँ आया करते थे।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधन थी। इसका उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था। कहा गया है कि 'शास्त्रों का पण्डित भी मूर्ख है यदि उसने कर्मशील व्यक्ति के रूप में निपूर्णता प्राप्त नहीं की है।' यद्यपि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के जिन दोषों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें से अधिकांश कालान्तर में उत्पन्न हो गये। भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल में शिक्षा व्यवस्था का दृष्टिकोण व्यापक था, उसमें संकीर्णता नहीं थी। सभी वर्गों को शिक्षा का सुअवसर मिला हुआ था। भारतीय शिक्षा ने विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड विद्वानों को उत्पन्न किया जिन्होंने अपने ज्ञान से स्वदेश तथा विदेश को आलोकित किया। विदेशों के अनेक लोग यहाँ अध्ययन करने आया करते थे। प्राचीन शिक्षा केन्द्रों में भारतीयों के साथ विदेशी छात्र भी अध्ययन करते थे। प्राचीन शिक्षा ने ही भारतीय संस्कृति की विरासत को सुरक्षित रखा तथा उसे समृद्धशाली भी बनाया। प्राचीन शिक्षा के अनेक तत्व आधुनिक शिक्षा पद्धति के लिए भी समान रूप से आदर्श एवं अनुकरणीय बने हुए हैं।

अंत टिप्पणी

1. *अल्तेकर, डॉ. ए.एस. : एज्युकेशन इन एनसाईंट इण्डिया, बनारस, 1944, पृ. 1–2*
2. *सु.र.स., पृ.–194*
3. *महाभारत, 12.339.6*
4. *ऋग्वेद, 1.164.66*
5. *श. ब्रा., 2.2.2.6*
6. *विष्णु पुराण, 6.5.16*
7. *ऋग्वेद 10.71.7*
8. *नीतिशतक, 16*
9. *कालिदास, मालविकाग्निमित्रम, 1.17*
10. *मनु, 2.118*
11. *तै.उ., 1.11*
12. *श.ब्रा., 1.55*
13. *गीता, 6.17*
14. *अमृतमंथन, 15.4*
15. *अपरार्क, पृ.सं. 30–31, स्मृतिचन्द्रिका, 1.5.26*
16. *मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968, पृ.–168*
17. *मनु, 2.36*
18. *ऐ.ब्रा., 2.15, तै.सं., 6.4.3.1*
19. *छा.उ., 7.1, श.ब्रा., 4.6.9.20*
20. *छा.उ., 7.1*
21. *जातक, 1 पृ. 212, 285*
22. *अर्थशास्त्र, 1.1*
23. *प्रयाग प्रशस्ति*
24. *मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968, पृ.–172*
25. *वही, पृ. 168*
26. *विष्णु पुराण, 3.10.12*
27. *वही*
28. *मत्स्य पुराण, 26.1*
29. *जातक, 6, पृ. 32*
30. *अंगुत्तर निकाय, पृ. 371*
31. *मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968, पृ.–168*
32. *अपरार्क द्वारा उदधृत, याज्ञ., 1.2.12*
33. *निरुक्त, 1.4*
34. *मनु, 2.141*
35. *श.ब्रा., 4.2.4.1*
36. *तै.उ., 1.1.4*
37. *छा.उ., 2.23.1*
38. *क.उ., 11.9*
39. *महाभारत, 5.33.33*
40. *मालविकाग्निमित्र, 1*
41. *रघुवंश, 3.29*
42. *दशकुमारचरित्, पृ. 21–22*
43. *बृ.उ., 3.6.8*
44. *वही, 2.4.3*
45. *आश्व. गृ.सू., 3.8.11*
46. *हारीत, संस्कर प्रकाश में उद्धत*
47. *रामायण, 2.20.15, 5.19.48*
48. *कामसूत्र, 1.3.12, 4.1.32*
49. *काव्यमीमांसा, अध्याय 10*